राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल पर कुछ बातें

हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आंदोलन में राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल एक बहुत अहम् सवाल है। वास्तव में तो यह ज्यादातर संगठनों द्वारा घोषित नयी जनवादी क्रान्ति के दो प्रमुख कार्यभारों में से एक है जो कभी-कभी दूसरे कार्यभार यानि सामन्तवाद का खात्मा से भी ज्यादा महत्व ग्रहण कर लेता है।

लेकिन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों द्वारा इस सवाल को जितना अहम् समझा गया है, उतना ही उसे गलत तरीके से प्रस्तुत भी किया गया है। और इसी गलत प्रस्तुतिकरण के चलते जो कार्यभार निकलते हैं, वे भी वर्तमान विश्व परिस्थिति के हिसाब से बिल्कुल बेमेल होते हैं। इनसे क्रान्ति को आगे बढ़ाने में कोई मदद नहीं मिलती बल्कि अंतिम विश्लेषण में वे हानिकारक ही सिद्ध होते हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल को दो गलत तरीकों से प्रस्तुत किया जाता है। पहला, इसे केवल एक राजनीतिक सवाल, राजनीतिक जनवाद का सवाल मानने के बदले साथ में आर्थिक सवाल भी मान लिया जाता है और फिर यह साबित करने की कोशिश की जाती है कि चूंकि उपनिवेशों ने अपनी राजनीतिक आजादी के मिलने के समय या उसके बाद साम्राज्यवाद से पूर्ण आर्थिक विच्छेद नहीं किया, अतः उनकी राष्ट्रीय मुक्ति या तो अधूरी रही या फिर वह छद्म बन कर रह गई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये देश अभी भी अर्द्ध-उपनिवेश या नव-उपनिवेश बने हुए हैं और इसीलिए इनके संदर्भ में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्य बाकी है जो केवल नयी जनवादी क्रान्ति के जरिए ही पूरा हो सकता है।

दूसरा, गलत प्रस्तुतिकरण साम्राज्यवाद की एक गलत अवधारणा से प्रस्थान करता है और निगमनात्मक (deductive) तर्कों के द्वारा यह साबित करने का प्रयास करता है कि इन सभी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति के सारे कार्यभार बाकी हैं। इसमें यह माना जाता है कि साम्राज्यवाद है तो उपनिवेश होंगे ही। यदि वे पुराने तरीके के नहीं है तो नये तरीके के (नव-उपनिवेश) होंगे या फिर अर्ध-उपनिवेश होंगे। यह भी मान लिया जाता है कि ये नव-उपनिवेश या अर्ध-उपनिवेश, पुराने उपनिवेशों से सारतः भिन्न नहीं हैं और चूंकि वह सारतः भिन्न नहीं है, अतः उनकी साम्राज्यवाद से मुक्ति यानि राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार स्वतः ही आ उपस्थित होता है। यह प्रस्तुतिकरण दो स्तरों पर गलतियां करता है। एक तो यह मानकर चलता है कि साम्राज्यवाद बिना प्रत्यक्ष या परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण के, खालिस आर्थिक तरीकों से काम नहीं कर सकता। यह साम्राज्यवाद को बेहद एकांगी तरीके से देखने की गलती है और साम्राज्यवाद की व्यापकता को कम करके आंकना है। दूसरा यह कि यह राजनीतिक प्रश्नों की उपेक्षा है। यदि पुराने उपनिवेशों का वह रूप नहीं रहा जो पहले था, तो इसमें जो राजनीतिक कारक शामिल रहे हैं, उनकी जाँच-परख न करना और तदनुरूप निष्कर्ष न निकालना राजनीतिक प्रश्नों की घोर उपेक्षा है। इसे लेनिन ने "साम्राज्यवादी अर्थवाद" का नाम दिया है जिसका सार यह है कि चूंकि साम्राज्यवाद बेहद शक्तिशाली है अतः राजनीतिक सवाल गौण है। "साम्राज्यवादी अर्थवाद" की इसी प्रवृत्ति के चलते द्वितीय विश्व युद्ध से आज तक हुए सारे विश्व राजनीतिक परिवर्तनों की उपेक्षा की जाती है और मान लिया जाता है कि दुनिया में सारतः कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और हमारे कार्यभार वही हैं जो मोटा-मोटी द्वितीय विश्व युद्ध के समय थे। कुछ लोग यदि परिवर्तनों को स्वीकारते भी हैं तो वे महज 1963 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रस्तुत **आम दिशा** तक अपने को सीमित रखते हैं और उसके बाद दुनिया को वहीं ठहरी हुई मान लेते हैं।

इस लेख में हम राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल के इन्हीं पहलुओं को उठाएंगे और मुख्यतः लेनिन द्वारा कही गई बातों पर केन्द्रित करते हुए यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल पर राजनीतिक प्रश्नों की उपेक्षा आज हमारे लिए कितनी ज्यादा घातक है और कैसे हमें गलत निष्कर्षों तक ले जाती है।

I

राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल एक राजनीतिक सवाल है

उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल जातियों (nationalities) के आत्म निर्णय के अधिकार का ही एक अंग है। और जातियों के आत्म निर्णय का अधिकार एक राजनीतिक सवाल, राजनीतिक जनवाद का सवाल है।

वस्तुतः प्रथम विश्व युद्ध और विशेषकर अक्टूबर क्रान्ति के पहले जातियों के आत्म निर्णय का सवाल मुख्यतः यूरोपीय देशों के भीतर का, बहुराष्ट्रीय राज्यों के भीतर का सवाल था, मसलन आस्ट्रिया या जारशाही रूस। उस समय उपनिवेशों की बात उठती भी थी तो महज औपचारिक रूप से। लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध और खासकर अक्टूबर क्रान्ति ने इस सबको बदल दिया। अब जातियों के आत्म निर्णय का सवाल बहुत व्यापक हो गया और वह केवल बहुराष्ट्रीय यूरोपीय राज्यों तक सीमित न रहकर राज्यों से बाहर अधीन बनाए गये उपनिवेशों तक विस्तारित हो गया। अब वह राज्यों से बाहर का भी सवाल बन गया। लेकिन उसका सारतत्व वही बना रहा जो राज्यों के भीतर उत्पीड़ित जातियों का था यानि जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार का सवाल। लेनिन कहते हैं:

> "... चीन, फारस तथा तुर्की जैसे अर्द्ध-औपनिवेशिक देश तथा वे तमाम उपनिवेश, जिनकी कुल मिलाकर आबादी एक अरब है। यहां बुर्जुआ जनवादी आंदोलन या तो मुश्किल से ही शुरू हुए हैं अथवा उन्हें अभी बहुत लम्बा सफर तय करना है। समाजवादियों को न केवल बिना मुआविजा दिए उपनिवेशों की, बिना शर्त तथा तत्काल मुक्ति की ही मांग करनी होगी - और यह मांग अपनी राजनीतिक अभिव्यक्ति में सिवाय आत्म निर्णय के अधिकार के और किसी चीज की द्योतक नहीं है; समाजवादियों को इन देशों में बुर्जुआ जनवादी राष्ट्रीय-मुक्ति आंदोलनों में अधिक क्रांतिकारी तत्वों का स्वयं संकल्पपूर्वक समर्थन करना होगा और उन्हें उत्पीड़ित करने वाली साम्राज्यवादी शक्तियों **के विरूद्ध** इन तत्वों के विप्लव को -- और क्रांतिकारी युद्ध होने की सूरत में उसको - सहायता देनी होगी।" (लेनिन: समाजवादी क्रांति तथा जातियों के आत्म निर्णय का अधिकार, संकलित रचनाएं, दस खंडों में, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1983, खण्ड-6, पृष्ठ 47-48)

आगे,

> "अपनी प्रस्थापनाओं में हमने कहा था कि उपनिवेशों की आजादी का अर्थ है राष्ट्रीय आत्मनिर्णय।" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा "साम्राज्यवादी अर्थवाद", प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1982, पृष्ठ 49 खण्ड)

और आगे,

> "जातियों का आत्म निर्णय वही चीज़ है, जो पूर्ण राष्ट्रीय मुक्ति के लिए, पूर्ण स्वाधीनता के लिए तथा बलात् संयोजन के खिलाफ संघर्ष है और समाजवादी **ऐसे** संघर्ष का परित्याग **नहीं कर सकते**, उसका रूप चाहे जो हो, यहां तक कि वह चाहे विद्रोह या युद्ध ही क्यों न हो।" (वही, पृष्ठ-11)

इन उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल, औपनिवेशिक जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार का यह सवाल एक राजनीतिक सवाल है - राजनीतिक जनवाद का सवाल। इसे आर्थिक सवालों से गड्मगड्ड करना गलत है। इस बारे में लेनिन कुछ बहुत साफ बातें करते हैं :

> "जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ अनन्य रूप से राजनीतिक अर्थ में स्वतंत्रता का, उत्पीड़नकारी राष्ट्र से मुक्त राजनीतिक पृथकता का अधिकार है। ठोस रूप में, राजनीतिक जनवाद की इस मांग का अर्थ है पृथकता के लिए आंदोलन करने की पूर्ण स्वतंत्रता तथा पृथक होने वाली जाति के जनमत संग्रह द्वारा पृथकता के प्रश्न का निर्णय।..." (लेनिन, समाजवादी क्रांति तथा जातियों के आत्म निर्णय का अधिकार, वही, पृष्ठ-40)
>
> "...जातियों के आत्म निर्णय की मांग जनवादी मांगों में ही एक मांग है और दूसरी जनवादी मांगों से सिद्धान्ततः भिन्न नहीं है।..." (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-13)
>
> "जातियों के आत्मनिर्णय का अर्थ है राजनीतिक स्वाधीनता।..." (वही, पृष्ठ-24)

इसके बाद लेनिन उन लोगों की लानत-मलानत करते हैं जो जातियों के आत्म निर्णय के मामले में आर्थिक "असाध्यता" की बात करते थे। वे साफ कहते हैं कि आत्म निर्णय के अधिकार की इस राजनीतिक जनवाद की मांग का आर्थिक आधारों से कोई लेना-देना नहीं है।

"अपनी आपत्तियां प्रकट करते हुए हमारे विरोधी कहते हैं: 'हम जानते हैं कि समाजवाद हर तरह के जातियों के उत्पीड़न का उन्मूलन करता है, क्योंकि वह उन वर्ग हितों को ही उन्मूलित कर देता है, जो जातियों के उत्पीड़न को जन्म देते हैं...' जातियों के उत्पीड़न के उन्मूलन की **आर्थिक** पूर्वापेक्षाओं के बारे में इस निर्विवाद तथा दीर्घकाल से सुपरिचित तर्क का उस बहस से क्या लेना-देना है, जिसका संबन्ध **राजनीतिक** उत्पीड़न के **एक** रूप से है अर्थात, एक जाति को बलात् दूसरी जाति की राजकीय सीमाओं के भीतर रखने से है? वास्तव में यह राजनीतिक सवालों से कतराने की कोशिश भर है।..." (लेनिन, आत्म निर्णय संबंधी बहस के परिणाम, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-83)

आगे,

"बुर्जुआ समाज में जातियों के राजनीतिक आत्मनिर्णय के और राज्यों के रूप में उनकी स्वाधीनता के प्रश्न के स्थान पर रोजा लक्जमबर्ग ने उनकी आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न लाकर रख दिया है। यह तो किसी ऐसे व्यक्ति की बुद्धिमत्ता सी चीज है, जो बुर्जुआ राज्य में संसद की, अर्थात् जनता के प्रतिनिधियों की सभा की प्रभुता की कार्यक्रम में उठाई गई मांग पर विचार करने हुए इस सर्वथा उचित विश्वास का प्रतिपादन करने लगे कि बुर्जुआ देश में शासन व्यवस्था कैसी भी हो, उसमें प्रभुत्व बड़े पूंजीपतियों का ही रहता है।" (लेनिन, जातियों का आत्म निर्णय का अधिकार, वही, खण्ड-4, पृष्ठ-307)

और आगे,

"... जातीय संबंधों के दृष्टिकोण से पूंजीवाद के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां निःसंदेह जातीय राज्य ही उपलब्ध कराता है। जाहिर है, इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार का राज्य, जो पूंजीवादी संबंधों पर आधारित होता है, जातियों के शोषण तथा उत्पीड़न को दूर कर सकता है। इसका अर्थ केवल यह होता है कि मार्क्सवादी उन प्रबल **आर्थिक** तत्वों को कभी नजरअंदाज नहीं कर सकते जो जातीय राज्यों की स्थापना की चेष्टाओं को जन्म देते हैं। इसका अर्थ यह है कि मार्क्सवादियों के कार्यक्रम में "जातियों के आत्मनिर्णय" का ऐतिहासिक-आर्थिक दृष्टिकोण से अर्थ राजनीतिक आत्म निर्णय, राजकीय स्वतंत्रता, जातीय राज्य के निर्माण के अतिरिक्त और कुछ **नहीं हो सकता।**" (लेनिन, वही, पृष्ठ-309)

इसी सिलसिले में लेनिन 1905 में नार्वे के स्वीडन से अलग हो जाने के मामले को लेते हैं और कहते हैं कि 1905 में जो मिली वह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता थी। और वही लक्ष्य भी था।

"1905 में नार्वे ने जिस स्वतंत्रता को "साध्य" बनाया, वह राजनीतिक स्वतंत्रता ही थी। उससे नार्वे की आर्थिक निर्भरता में कोई फर्क नहीं पड़ सकता था, न ही वह उद्देश्य रखा गया था। हमारी प्रस्थापनाओं में ठीक यही बात कही गई है। हमने कहा कि आत्मनिर्णय केवल राजनीति से मतलब रखता है, अतः उसकी आर्थिक असाध्यता का प्रश्न उठाना भी गलत होगा।..." (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप ..., वही, पृष्ठ-30)

इसी बात को लेनिन और पुरजोर तरीके से कहते हैं:

"... साम्राज्यवाद के अंतर्गत आत्मनिर्णय की **आर्थिक दृष्टि से** "असाध्यता" की बात करना कोरी बकवास है।" (लेनिन, वही, पृष्ठ-24)

उपरोक्त सारी बातों से स्पष्ट है कि वे सारे लोग जो राष्ट्रीय मुक्ति के मामले में साम्राज्यवाद से आर्थिक विच्छेद न होने की सूरत में किसी भी राजनीतिक विच्छेद की अहमियत को मानने से इंकार करते हैं, "कोरी बकवास" करते हैं क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल एक राजनीतिक सवाल है और इस मामले में आर्थिक "असाध्यता" का सवाल उठाना ही गलत है। यहीं से यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्रीय मुक्ति के मामले में सबसे महत्वपूर्ण यह आंकलन करना है कि जो भी राजनीतिक स्वतंत्रता मिली है वह कितनी वास्तविक है और कितनी छद्म। यदि यह राजनीतिक स्वतंत्रता वास्तविक है, या कालांतर में वास्तविक बन जाती है तो राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार मूलतः पूर्ण माना जाएगा, भले ही वह देश या राष्ट्र साम्राज्यवाद के साथ वित्तीय पूंजी के हजार सूत्रों में बंधा हुआ क्यों न हो।

लेकिन यहीं पर सवाल उठ सकता है कि राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल भले ही केवल राजनीतिक सवाल हो, राजनीतिक जनवाद का सवाल हो, तो क्या पूंजीवाद के अंतर्गत यह जनवाद उत्पीड़ित राष्ट्रों को मिल सकता है? और मिल सकता है तो कितना? उससे भी बढ़कर, साम्राज्यवाद के युग में जो अपने चरित्र में बेहद प्रतिक्रियावादी होता है, यह राजनीतिक जनवाद कितना संभव है।

II

साम्राज्यवाद जनवाद को और ज्यादा सीमित करता है

जनवाद का मतलब है एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से या एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र से समानता। लेकिन पूंजीवाद के अंतर्गत यह समानता केवल औपचारिक होती है और वास्तविकता में यह औपचारिक समानता आर्थिक असमानता के कारण लगातार अतिक्रमित होती रहती है तथा व्यक्तियों या राष्ट्रों का उनके द्वारा उत्पीड़न होता रहता है जो आर्थिक तौर पर ज्यादा शक्तिशाली होते हैं।

पूंजीवाद का यह सामान्य नियम है कि वह जनवाद को, व्यक्तियों या राष्ट्रों की समानता को लगातार सीमित या अतिक्रमित करता है। यह इस कारण होता है कि पूंजीवाद के अंतर्गत राजनीतिक और आर्थिक आधारों में तीखा अंतर्विरोध होता है जहां पूंजीवाद राजनीतिक क्षेत्र में औपचारिक बराबरी को मान्यता देता है, वहीं वह आर्थिक क्षेत्र में पूंजी के आधार पर आर्थिक गैरबराबरी को भी मान्यता देता है। राजनीतिक क्षेत्र में औपचारिक बराबरी और आर्थिक क्षेत्र में गैर-बराबरी उस अंतर्विरोध को जन्म देती है जिसका परिणाम होता है जनवाद का अत्यन्त संकुचित होना; उसका केवल शक्तिशाली लोगों तक सीमित रह जाना। यही वह कारण है जिसका परिणाम हर मजदूर अपने अनुभव से जानता है, कि पूंजीवाद में केवल धानिकों की, पूंजीपतियों की चलती है, मजदूरों की नहीं।

लेकिन इसके बावजूद इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि पूंजीवाद के अंतर्गत राजनीतिक जनवाद का सवाल एक महत्वपूर्ण सवाल है क्योंकि पूंजीवादी जनवाद की स्थिति में ही पूंजीपति और मजदूर के बीच अंतर्विरोध सबसे तीव्र होते हैं और मजदूर यह साफ-साफ देख सकता है कि उसके शोषण-उत्पीड़न का वास्तविक कारण पूंजी है, किन्हीं जनवादी अधिकारों का अभाव नहीं। इसी कारण कम्युनिस्ट जनवादी अधिकारों के लिए लड़ते हैं और जैसा कि हम देख चुके हैं राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल एक जनवादी सवाल है। लेनिन कहते हैं:

".... पूंजीवाद के अंतर्गत **सभी** जनवादी अधिकारों की तरह तलाक का अधिकार भी आपेक्षिक, सीमित, संकुचित और औपचारिक है। और उसे कार्यरूप देना अत्यंत कठिन है। ... **समस्त** "जनवाद" उन "अधिकारों" की घोषणा और पूर्ति में निहित है, पूंजीवाद के अंतर्गत जिनकी पूर्ति न्यून मात्रा में तथा आपेक्षिक रुप में ही संभव है।..." (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप ..., वही, पृष्ठ-63)

"... अधिकांश मामलों में पूंजीवाद के अंतर्गत "अपने" ही जन-न्यायाधीश,जन-अधिकारी, स्कूलों के शिक्षक, जूरी के सदस्य, आदि निर्वाचित करने का अधिकार भी मजदूरों और किसानों की आर्थिक अधीनता के ही कारण अव्यवहार्य होता है।..." (वही,पृष्ठ-61)

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जनवाद का कोई अर्थ नहीं है, कि उसके लिए लड़ने का कोई तुक नहीं है।

"वे ही लोग, जो सीधी बात सोच नहीं सकते या जो मार्क्सवाद की जानकारी नहीं रखते, इससे यह निष्कर्ष निकालेंगे तो फिर जनतंत्र की स्थापना में कोई तुक नहीं है, तलाक की आजादी में कोई तुक नहीं है, जनवाद में कोई तुक नहीं है, न ही जातियों के आत्म निर्णय में कोई तुक है! परन्तु मार्क्सवादी जानते हैं कि जनवाद वर्ग-उत्पीड़न को समाप्त **नहीं** कर देता। वह केवल वर्ग संघर्ष को अधिक प्रत्यक्ष, अधिक व्यापक, अधिक प्रकट और उग्र बना देता है, और हमें यही चाहिए।... शासन व्यवस्था जितनी जनवादी होगी, मजदूर उतना ही साफ देख सकेंगे कि बुराई की जड़ अधिकारों का अभाव नहीं, पूंजीवाद है। राष्ट्रीय समानता जितनी पूर्ण होगी (और अलग होने की आजादी के बिना वह पूर्ण **नहीं** हो सकती), उत्पीड़ित जातियों के मजदूर उतना ही साफ यह देख सकेंगे कि उनके उत्पीड़न का कारण अधिकारों का अभाव नहीं, पूंजीवाद है, आदि।" (वही, पृष्ठ 61-62)

जहाँ तक आत्म निर्णय की बात है।

"जनवाद पूंजीवाद के अंतर्गत **जितना** संभव है, आत्मनिर्णय उससे ज्यादा असंभव **नहीं** है; जनवाद समाजवाद के अंतर्गत **जितना** अनावश्यक है, **उतना ही** अनावश्यक आत्म निर्णय है।" (वही, पृष्ठ-64)

"पूंजीवाद के अंतर्गत जातियों के (और आम तौर पर राजनितिक प्रकार के) उत्पीड़न का उन्मूलन करना **असंभव** है। ऐसा कर सकने के लिए वर्गों का उन्मूलन, यानि समाजवाद की स्थापना **आवश्यक** है।" (लेनिन, आत्मनिर्णय संबंधी बहस के परिणाम, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-87)

अब यदि पूंजीवाद सामान्यतया जनवादी अधिकारों का अतिक्रमण करता है, उन्हें संकुचित करता है तो साम्राज्यवाद, जो पूंजीवाद की चरम अवस्था है और जिसकी बुनियाद है इजारेदारी न कि स्वतंत्र प्रतियोगिता,

वह तो और भी ज्यादा जनवाद विरोधी है। वह बाहर और भीतर और भी ज्यादा प्रतिक्रियावादी होता है। समस्त जनवादी अधिकारों और इसी कारण जातियों के आत्म निर्णय या राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल साम्राज्यवाद के अंतर्गत और ज्यादा अव्यवहार्य हो जाता है।

लेनिन कहते हैं:

"इस नयी अर्थव्यवस्था, इजारेदार पूंजीवाद (साम्राज्यवाद का अर्थ है इजारेदार पूंजीवाद) का राजनीतिक ऊपरी ढांचा जनवाद **से** राजनीतिक प्रतिक्रियावाद **में** परिवर्तन है। जनवाद स्वतंत्र प्रतियोगिता के अनुरूप है। राजनीतिक प्रतिक्रियावाद इजारेदारी के अनुरूप है।..." (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-22)

"... साम्राज्यवाद निर्विवाद रूप से जनवाद की महज एक मांग का, जातियों के आत्मनिर्णय का ही नहीं, **सामान्यतः जनवाद का, समस्त जनवाद का** "अस्वीकरण" है।" (वही, पृष्ठ-22)

"साम्राज्यवाद और जनतंत्र के बीच अंतर्विरोध आधुनिकतम पूंजीवाद (अर्थात् इजारेदार पूंजीवाद) की अर्थव्यवस्था और सामान्यतः राजनीतिक जनवाद के बीच का अंतर्विरोध है। ..." (वही, पृष्ठ-26)

"... साम्राज्यवाद **सामान्यतः समस्त** राजनीतिक जनवाद का विरोधी है..." (वही, पृष्ठ-26)

अब यदि साम्राज्यवाद सामान्यतः समस्त जनवाद का विरोधी है तो इसके अंतर्गत आत्मनिर्णय के अधिकार की प्राप्ति यानि राष्ट्रीय मुक्ति भी बहुत कठिन, कष्टसाध्य हो जाती है। यह इसलिए "असाध्य" नहीं हो जाती कि साम्राज्यवाद के अंतर्गत, वित्त पूंजी के अधिपत्य के अंतर्गत यह असंभव है। आर्थिक विच्छेद की असाध्यता का तो यहां सवाल ही पैदा नहीं होता क्योंकि यहां सवाल आर्थिक अलगाव का है ही नहीं यहां सवाल राजनीतिक अलगाव का है। लेकिन राजनीतिक अलगाव साम्राज्यवाद के अंतर्गत बहुत कठिन हो जाता है। यह इतना कठिन हो जाता है कि सामान्यतया यह क्रांतियों के सिलसिले के बिना हासिल नहीं होता और समाजवाद के बिना स्थाई नहीं होता।

लेनिन कहते हैं:

"... साम्राज्यवाद के अंतर्गत **सभी** जनवादी मांगे इस अर्थ में "असाध्य" हैं कि क्रान्तियों के एक सिलसिले के बगैर वे राजनीतिक दृष्टि से या तो कष्टसाध्य हैं या सर्वथा असाध्य।" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-19)

"... साम्राज्यवादी युग न तो राष्ट्रीय राजनीतिक स्वाधीनता की चेतना को मिटाता है, न विश्व साम्राज्यवादी संबंधों की **सीमाओं** के भीतर उसकी "साध्यता" को। परन्तु इन सीमाओं से **बाहर** रूस में जनतंत्र अथवा सामान्यतः संसार में और कहीं भी कोई भी बड़ा जनवादी रद्दोबदल क्रांतियों के एक पूरे सिलसिले के बिना "असाध्य" है और सामाजवाद के बिना अस्थाई होगा।.."?

(वही, पृष्ठ-36)

"हमारी थीसिसों में कहा गया है कि उपनिवेशों की अविलम्ब मुक्ति की मांग पूंजीवाद के अंतर्गत उतनी ही "असाध्य" है (अर्थात् वह अनेक क्रांतियों के बिना पूरी नहीं की जा सकती और वह समाजवाद के बिना स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकती) जितने कि जातियों का आत्म निर्णय, सरकारी अधिकारियों का जनता द्वारा निर्वाचन, जनवादी जनतंत्र आदि असाध्य हैं - और दूसरी ओर; यह भी कहा गया है कि उपनिवेशों की मुक्ति की मांग "जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार की मान्यता" के सिवा और कुछ नहीं है।" (लेनिन, आत्मनिर्णय संबंधी बहस के परिणाम, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-102)

इसी बात को और आगे स्पष्ट करते हुए लेनिन कहते हैं:

"साम्राज्यवादी ताकतों **के विरुद्ध** राष्ट्रीय युद्ध न केवल संभव और विश्वसनीय हैं, बल्कि वे अपरिहार्य, **प्रगतिशील और क्रांतिकारी** भी होते हैं, **हालांकि सफल होने के** लिए वे बेशक तकाजा करते हैं या तो उत्पीड़ित देशों के निवासियों की विशाल संख्या (हिन्दुस्तान और चीन की हमारी मिसाल में सैकड़ों लाख) के एकताबद्ध प्रयासों का अथवा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के **विशेष रूप** से अनुकूल संयोग का (उदाहरण के लिए अपनी शक्ति खत्म हो जाने से अपने युद्ध, अपने पराभव आदि के कारण साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा हस्तक्षेप करने की असमर्थता) अथवा किसी एक बड़ी ताकत के यहां बुर्जुआ वर्ग के विरूद्ध सर्वहारा वर्ग के **एक साथ** विद्रोह का (हमारे द्वारा गिनाई गयी तीन सूरतों में से आखिरी का सर्वहारा की विजय के लिए सबसे वांछनीय तथा अनुकूल होने के नाते पहला स्थान है)।" (लेनिन, जूनियस का पैंफलेट, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-72)

लेकिन इस सबसे यह मतलब नहीं निकाला जाना चाहिए कि साम्राज्यवाद के अंतर्गत राष्ट्रीय मुक्ति सर्वथा

असाध्य है। वह सामान्यतः कष्टसाध्य तो है परन्तु असाध्य नहीं। इसे असाध्य मान लेना वास्तविक जीवन में घट रही घटनाओं को सिद्धान्तों की आड़ में नकार देना है। लेनिन इसके खिलाफ चेतावनी देते हैं और कहते हैं कि साम्राज्यवादी संबंधों के **भीतर** वह बिना क्रांतियों के सिलसिले के भी साध्य है, भले ही वह अपवाद स्वरूप ही क्यों न हो।

"नार्वे ने 1905 में, उग्रतम साम्राज्यवाद के युग में असाध्य माने गये आत्म निर्णय के अधिकार को "साध्य" बनाया। अतएव "असाध्यता" की बात करना सैद्धांतिक दृष्टि से बेतुका ही नहीं हास्यास्पद भी है।" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-29)

"... 1905 में स्वीडन से नार्वे के पृथक्करण की एक मिसाल तक इस अर्थ में "अव्यवहार्यता" का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है।..." (लेनिन, समाजवादी क्रांति तथा जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-39)

अन्य राष्ट्रों के संबंध में लेनिन कहते हैं कि कैसे यह "असाध्यता" साध्य हो सकती है यानि साम्राज्यवाद के संबंधों के भीतर कैसे राष्ट्रीय मुक्ति हो सकती है:

"... इससे इंकार करना उपहासास्पद होगा कि उदाहरण के लिए, जर्मनी और ब्रिटेन के पारस्परिक राजनीतिक और रणनीतिक संबंधों में जरा भी परिवर्तन नये पोलिश, हिन्दुस्तानी और ऐसे ही अन्य राज्य को आज या कल पूर्णतः "व्यवहार्य" बना सकता है।..." (लेनिन, समाजवादी क्रांति तथा जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-39)

"**खालिस** सैनिक तथा रणनीतिक प्रकार की परिस्थितियों में एक अलग पोलिश राज्य ***आज भी*** पूर्णतः साध्य है।.. **खालिस** सैनिक तथा रणनीतिक कारणों से और **वर्तमान** साम्राज्यवादी युद्ध का एक विशेष परिणाम होने की स्थिति में (उदाहरण के लिए स्वीडन के जर्मनी से मिल जाने और जर्मनी की अर्द्ध-विजय की स्थिति में) **फिनलैण्ड भी**, वित्तीय पूंजी की एक भी कार्यवाही की "साध्यता" को खण्डित किए बिना, फिनलैण्ड के रेलवे और औद्योगिक शेयरों की खरीद को "असाध्य" बनाए बिना, **एक अलग राज्य हो सकता है।**" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-39)

आगे चलकर अपने लेख के चौथे खण्ड में हम देखेंगे कि कैसे द्वितीय विश्व युद्ध के काल में दुनिया के पैमाने पर कार्यरत विभिन्न शक्तियों ने, जिनका लेनिन ऊपर जिक्र करते हैं, मसलन समाजवादी क्रान्तियां, कई सारे उपनिवेशों में क्रांतियां या व्यापक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, साम्राज्यवादी ताकतों का कमजोर पड़ जाना या फिर साम्राज्यवादी ताकतों के बीच तीखे अंतर्विरोध इत्यादि ने उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति को संभव बनाया। कैसे यह राष्ट्रीय मुक्ति कहीं मुकम्मल थी, कहीं अधूरी तो कहीं महज औपचारिक। और कैसे यह समूची प्रक्रिया वहां पहुँची जहाँ कमोबेश सभी उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार मूलतः पूरा हो गया (और जो बच रहा वह अब जनवादी क्रांति के दायरे में पूरा नहीं हो सकता, उसके लिए समाजवादी क्रांति की जरूरत पड़ेगी)।

यहां हमें इस बात को बार-बार याद रखने की जरूरत है कि पूंजीवाद सामान्यतया जनवाद को संकुचित करता है और साम्राज्यवाद तो उसका सीधे-सीधे निषेध करता है। ऐसे में साम्राज्यवाद के युग में, उसके दायरे में और पूंजीवादी आधार भूमि पर खड़े होकर लड़ी गई राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई कितनी ज्यादा गैर मुकम्मल होगी। आजादी के बाद किए गए राष्ट्र निर्माण के कार्य किस कदर अपूर्ण होंगे। लेकिन यह साम्राज्यवादी युग और पूंजीवादी दायरे की सीमा है। उपनिवेशों का अत्यन्त कमजोर पूंजीपति वर्ग इससे ज्यादा नहीं प्राप्त कर सकता। लेकिन उसकी इस प्राप्ति के साथ इतिहास में उसकी भूमिका समाप्त हो गयी है। वह अब प्रगतिशील नहीं रहा। वह भी साम्राज्यवादी बुर्जुआ की तरह प्रतिक्रियावादी हो गया है। इसी तरह उपनिवेशों में राष्ट्र निर्माण का कार्य एक हद तक पूरा हो गया है। अब उसे पूरा करने पर अपना कार्यक्रम केन्द्रित करना अपने को अतीत से बांधे रखना होगा जबकि भविष्य का काम आ उपस्थिति हुआ है यानि समाजवादी निर्माण का कार्य।

लेकिन इन सब पर चर्चा करने से पहले एक और बात पर भी चर्चा कर लेना आवश्यक होगा, वह यह कि क्या वित्त पूंजी के प्रसार के लिए राजनीतिक पराधीनता (चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, चाहे वह उपनिवेश हो या नव-उपनिवेश अथवा अर्द्ध-उपनिवेश) आवश्यक है? क्या बिना राजनीतिक पराधीनता के वित्त पूंजी अपना कार्य नहीं कर सकती? यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि साम्राज्यवाद का मतलब है वित्त पूंजी का प्रभुत्व और क्रांतिकारी खेमे में यह मान्यता व्याप्त है कि बिना राजनीतिक पराधीनता के वित्त पूंजी का प्रभुत्व नहीं स्थापित हो सकता।

III

राजनीतिक स्वतंत्रता वित्त पूंजी के लिए बाधक नहीं है

लेनिन ने इस बात को बार-बार रेखांकित किया कि साम्राज्यवाद का मतलब है वित्त पूंजी का प्रभुत्व। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व तभी मुकम्मल होता है जब आर्थिक रूप से अधीन किए गये राज्यों की राजनीतिक स्वतंत्रता भी नष्ट हो जाती है। यह वित्त पूंजी के शोषण के लिए सबसे अच्छी स्थिति है। वित्त पूंजी इसके लिए सदा प्रयास भी करती है। साम्राज्यवाद के उद्‌भव के साथ इसीलिए सारी दुनिया का क्षेत्रीय बंटवारा पूरा हो गया। सारे पिछड़े देश उन्नत पूंजीवादी देशों द्वारा अपने उपनिवेश बना लिए गए।

लेकिन लेनिन का यह भी कहना था कि वित्त पूंजी के शोषण का यही एकमात्र रूप नहीं है। वह इतनी शक्तिशाली है कि राजनीतिक रूप से स्वतंत्र देशों को भी अपने जाल में समेट लेती है। इसीलिए यदि उसे ऐसी किसी स्थिति का सामना करना पड़े कि वह अधीन देश की राजनीतिक स्वतंत्रता न नष्ट कर सके या राजनीतिक रूप से पराधीन देश स्वतंत्र हो जाये तो वह अपने आर्थिक तौर-तरीके से काम चलाती है। निश्चय ही, यह स्थिति उसके लिए "असुविधाजनक" होगी लेकिन बाधक कतई नहीं।

वित्त पूंजी की इसी ताकत के कारण, वित्त पूंजी द्वारा राजनीतिक रूप से स्वाधीन देशों को अपने अधीन बना लेने की उसकी क्षमता के कारण, लेनिन ने यह बात कही कि राष्ट्रीय मुक्ति के मामले में आर्थिक असाध्यता की बात उठाना गलत है क्योंकि वित्त पूंजी स्वाधीन देश को भी अपने बंधन में जकड़े रहेगी। बल्कि वित्त पूंजी के इस बंधन का विखण्डन राष्ट्रीय मुक्ति की शर्त कदापि नहीं है। साम्राज्यवाद के युग में और पूंजीवाद के दायरे में यह संभव भी नहीं है। लेनिन कहते हैं:

> "...क्या 'वित्तीय पूंजी के युग में' विदेशी राज्य तक में प्रतियोगिता को समाप्त कर देना **आर्थिक दृष्टि** से संभव है? बेशक संभव है। ऐसा अपने प्रतिद्वन्दी की वित्तीय निर्भरता के जरिए, कच्चे माल के उसके स्रोतों को और अंततः उसके सभी उद्यमों को हथिया लेने के जरिए किया जाता है।" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-23)।
>
> "एक देश की बड़ी वित्तीय पूंजी दूसरे, राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र, देश के अपने प्रतिद्वन्दियों को खरीद सकती है और बराबर खरीदती रहती है। आर्थिक दृष्टि से यह पूर्णतया साध्य है। राजनीतिक संयोजन के बिना भी आर्थिक "संयोजन" **पूर्णतया** "साध्य" है और व्यहार में खूब चलता है। साम्राज्यवाद संबंधी साहित्य में आप बराबर इस बात के संकेत पायेंगे कि, मिसाल के लिए, अर्जेंटाइना वास्तव में ब्रिटेन का "व्यापारिक उपनिवेश" है या यह कि पुर्तगाल वास्तव में ब्रिटेन का "दास" है, आदि। और वास्तव में ऐसा ही है: इन देशों का ब्रिटिश बैंकों पर आर्थिक रूप से निर्भर होना, उन पर ब्रिटेन का कर्ज़ चढ़ना, उनकी रेलों, खानों, जमीनों आदि का ब्रिटेन के हाथ में चला जाना - इन सब की बदौलत ब्रिटेन उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण किए बिना उन्हें आर्थिक रूप में "संयोजित" कर सका है।" (लेनिन, वही, पृष्ठ-24)।
>
> "...वित्त पूंजी विस्तार के अपने प्रयास में किसी भी, "स्वाधीन" देश तक की सबसे स्वतंत्र जनवादी और जनतात्रिक सरकार तथा निर्वाचित अधिकारियों तक को "स्वतंत्र रूप से" खरीद सकती है और रिश्वत देकर अपनी ओर कर सकती है। वित्त पूंजी के और सामान्य रूप से पूंजी के प्रभुत्व को राजनीतिक जनवाद के क्षेत्र में **किसी भी तरह** के सुधारों से नहीं मिटाया जा सकता; और आत्मनिर्णय पूर्णतया तथा अनन्य इसी क्षेत्र से सरोकार रखता है। परन्तु वित्त पूंजी का यह प्रभुत्व वर्ग उत्पीड़न तथा वर्ग संघर्ष के अधिक स्वतंत्र, अधिक विस्तृत और अधिक स्पष्ट **रूप** की हैसियत से राजनीतिक जनवाद के महत्व को लेशमात्र नहीं मिटाता।"... (लेनिन, समाजवादी क्रांति तथा जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार, वही, खण्ड-6, पृष्ठ-39)।
>
> "...'स्वयं अपनी' सैनिक गतिविधि को नुकसान पहुंचाने के खतरे से बचने की गरज से **अलग-अलग** छोटे-छोटे राष्ट्रों को एन राजनीतिक स्वाधीनता की हद तक जितनी भी राजनीतिक स्वतंत्रता दी जा सकती है, उतनी देना वित्तीय पूंजी के दृष्टिकोण से "साध्य" ही नहीं होता, बल्कि **कभी-कभी** ट्रस्टों के लिए, **उनकी** साम्राज्यवादी नीति के लिए, **उनके** साम्राज्यवादी युद्ध के लिए **लाभप्रद** भी होता है। राजनीतिक तथा रणनीतिक संबंधों की विशिष्टता को नजरअंदाज कर देना और विवेकशून्य भाव से रटे हुए 'साम्राज्यवाद' शब्द को दुहराना और कुछ भी हो, मार्क्सवाद नहीं है।" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-33)।

इसी बात को कुछ देशों का उदाहरण लेते हुए लेनिन कहते हैं:

> "...पोलैण्ड चाहे जो राजनीतिक शक्ल अख्तियार करे, चाहे वह जारशाही रूस का भाग हो या जर्मनी का, स्वायत्त प्रदेश हो या राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र राज्य, इससे साम्राज्यवादी शक्तियों की वित्तीय पूंजी पर उसकी

> निर्भरता न वर्जित की जा सकती है और न रद्द की जा सकती है, यानि इस पूंजी द्वारा उसके उद्योग धन्धों के शेयरों को खरीदने से रोका नहीं जा सकता है।" (लेनिन, मार्क्सवाद का विकृत रूप..., वही, पृष्ठ-30)।
>
> "वित्तीय पूंजी की लम्बी-चौड़ी बातें बघारना ताकि राजनीतिक प्रश्नों की उपेक्षा की जा सके - क्या यह राजनीति की बहस का सही तरीका है?
>
> "नहीं! अर्थवाद के खोटे तर्क से राजनीतिक प्रश्न हवा नहीं हो जाते। नार्वे में अलगाव से पहले और बाद में ब्रिटिश वित्तीय पूंजी "काम" कर रही थी। जर्मन वित्तीय पूंजी पोलैण्ड में रूस से उसके अलग होने से पहले से "काम" कर रही थी और पोलैण्ड का राजनीतिक दर्जा **चाहे जो हो जाए**, बराबर "काम" करती रहेगी। यह एक ऐसी प्राथमिक बात है कि हमें उसे मजबूरन बार-बार दुहराने में संकोच होता है। परन्तु यदि ककहरा ही भुला दिया जाये तो आप कर ही क्या सकते हैं?
>
> "क्या वित्तीय पूंजी की इस बात से नार्वे की स्थिति का राजनीतिक प्रश्न मिट जाता है? या यह बात मिट जाती है कि नार्वे स्वीडन का अंग रहा है? या अलगाव की समस्या पेश होने के समय मजदूरों के रुख का सवाल मिट जाता है? (वही, पृष्ठ-34)।
>
> "...परन्तु इन्हीं वक्तव्यों से एक बार नहीं, अनेक बार **प्रमाणित हो जाता है** कि नार्वे का "आत्मनिर्णय" तथा अलगाव **न तो** सामान्यतः वित्तीय पूंजी के विकास को, न विशेषतः उसकी कार्यवाहियों के प्रसार को और **न ही** अंग्रेजों द्वारा नार्वे खरीद लिए जाने को **रोक सका।**" (वही, पृष्ठ-38)।

अतः स्पष्ट है कि राज्यों का राजनीतिक स्वरूप वित्त पूंजी के प्रसार के रास्ते में कोई ऐसी अनुलंघनीय बाधा नहीं खड़ा करता जिसे वित्त पूंजी लांघ न सके और इसीलिए साम्राज्यवाद के लिए यह रूप अख्तियार कर लेना संभव होता है कि वह बिना प्रत्यक्ष या परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण के भी अपना आर्थिक प्रभुत्व जमाये रहे और अतिलाभ कमाता रहे। निश्चय ही वह ऐसा रूप तभी अख्तियार करेगा जब उसे इसके लिए मजबूर कर दिया जाय यानि उसे उपनिवेशवाद या नव-उपनिवेशवाद से पीछे ढकेल दिया जाए। खुद साम्राज्यवाद अपनी मर्जी से पीछे नहीं हटेगा क्योंकि प्रभुत्व का वह रूप उसके लिए सबसे फायदेमंद होता है जिसमें अधीन किए गये राज्यों की राजनीतिक स्वतंत्रता भी नष्ट हो जाए।

यहीं पर हम विचार कर लें कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमे में यह सोच क्यों इस कदर हावी हुयी कि बिना आर्थिक विच्छेद के राजनीतिक विच्छेद का कोई अर्थ नहीं है या यह कि साम्राज्यवाद है तो उपनिवेश या नव-उपनिवेश होंगे ही।

यह अपनी चाहत को वास्तविकता के स्थान पर रखने का परिणाम है। हम ऊपर देख चुके हैं कि मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता ही साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। बल्कि, जैसा कि लेनिन बार-बार कहते हैं, वित्त पूंजी अपना शोषण जारी रखती है यदि पूंजीवाद के दायरे में बने रहा जाए। ऐसे में साफ सी बात है कि साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति तभी मिल सकती है जब साम्राज्यवाद से राजनीतिक के साथ-साथ आर्थिक विच्छेद भी कर लिया जाए। केवल पूर्ण आर्थिक व राजनीतिक विच्छेद ही वित्तीय पूंजी के हजार हाथों से किसी देश को बचा पायेगा। अब, चूंकि उपनिवेशों के कम्युनिस्टों का उद्‌देश्य होता है, सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति, सो वे स्वभावतः ही उपनिवेशों के मामले में साम्राज्यवाद से सम्पूर्ण आर्थिक व राजनीतिक विच्छेद का कार्यक्रम जनता के सामने पेश करते हैं। उनके अपने कार्यक्रम में यह बात दर्ज होती है कि साम्राज्यवाद से सम्पूर्ण विच्छेद ही सही मायनों में राष्ट्रीय मुक्ति है। यह इसलिए भी जरूरी है कि इस राष्ट्रीय मुक्ति (जो कि नई जनवादी क्रांति का एक हिस्सा होती है) का उद्‌देश्य पूंजीवाद कायम करना नहीं, बल्कि जनवाद कायम करते हुए समाजवाद को ओर बढ़ जाना है। समाजवाद की ओर यह कदम वित्त पूंजी के जाल में बंधे रहकर संभव नहीं है। कम्युनिस्टों के राष्ट्रीय मुक्ति के इस कार्यक्रम को सबसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने और उसी ने उसे सबसे शास्त्रीय ढंग से लागू भी किया। तब से यह सभी औपनिवेशिक देशों के कम्युनिस्टों का आदर्श बन गया और वे इसके लिए लगातार संघर्ष करते रहे।

लेकिन यह कम्युनिस्टों का अपना आदर्श, अपनी चाहत, अपना कार्यक्रम था। और उनके लिए यह उचित ही था कि वे बुर्जुआ वर्ग द्वारा प्राप्त केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से (और वह भी अक्सर अपूर्ण) असंतुष्ट रहें और जनता के सामने यह बात रखें कि साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति के लिए हमें साम्राज्यवाद से संपूर्ण विच्छेद करना चाहिए। परन्तु उनके लिए यह उचित नहीं था कि वे वस्तुतः जो हो रहा था उसका सांगोपांग मूल्यांकन

न करें। उनके लिए यह उचित नहीं था कि वे अपनी इच्छाओं को वास्तविकता के मूल्यांकन पर हावी हो जाने दें। यदि वे जनता का नेतृत्व नहीं कर सके और बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवादियों के साथ संघर्ष-समझौते करके एक हद तक राजनीतिक आजादी हासिल कर ली तो उसका वस्तुगत मूल्यांकन किया जाना चाहिए था। बनिस्पत इसके कि इसे महत्वहीन या साम्राज्वादियों की चाल या कहीं कुछ नहीं बदला कहकर खारिज कर दिया जाए। लेकिन कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमे द्वारा वस्तुतः यही किया जाता रहा है। चूंकि हमारे यहाँ बुर्जुआ जनवादी क्रांति या नई जनवादी क्रान्ति नहीं हुई, इसीलिए जनवाद के सारे कार्यभार बाकी हैं। चूंकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद से सम्पूर्ण विच्छेद नहीं हुआ, अतः राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार बाकी हैं। यह राजनीतिक प्रश्नों के प्रति घोर उपेक्षा के अलावा कुछ नहीं है, लेनिन जिसकी इतनी तीक्ष्णता से भर्त्सना करते हैं। क्या हमारे यहां भी यह नहीं होता रहा है कि वित्त पूंजी की सर्वशक्तिमत्ता, या साम्राज्यवाद की ताकत की बात करके जो कुछ वास्तव में हुआ उसे देखने से इंकार कर दिया जाए? उसके वस्तुगत आंकलन से इंकार कर दिया जाए? एक मायने में यह "साम्राज्यवादी अर्थवाद" नहीं तो और क्या है?

आइये! अब हम द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के विश्व का एक अति संक्षिप्त अवलोकन करके देखें कि राष्ट्रीय मुक्ति के मामले में दुनिया आज कहां खड़ी है।

IV

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन

भले ही राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का उद्देश्य एक बुर्जुआ जनवादी कार्यभार रहा हो लेकिन इतिहास की गति कुछ ऐसी रही कि प्रथम विश्वयुद्ध और खासकर अक्टूबर क्रान्ति के बाद ये बुर्जुआ जनवादी आंदोलन आम बुर्जुआ जनवादी क्रांति का अंग नहीं रह गये बल्कि विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अभिन्न अंग बन गये। दोनों का दुश्मन एक था - साम्राज्यवाद। सर्वहारा समाजवादी क्रांति जहां साम्राज्यवाद के गढ़ में उस पर प्रहार करती थी वहीं, राष्ट्रीय मुक्ति के आंदोलन उसके पिछवाड़े को तोड़कर, उसके रिज़र्व को समाप्त कर साम्राज्यवाद को कमजोर करते थे। इनमें से चूंकि सर्वहारा क्रांति ही प्रधान थी, साम्राज्यवाद का वही प्रधान दुश्मन थी, सो राष्ट्रीय मुक्ति के आंदोलन उसके अभिन्न अंग होने के कारण उसके आगे बढ़ने पर आगे बढ़ते रहे और पीछे हटने पर पीछे। लेकिन चूंकि उनकी अपनी स्वतंत्र गति भी थी, उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी था, अतः समाजवादी धारा की आंशिक या पूर्ण पराजय के बाद भी वे पूर्णतः खत्म नहीं हो गये और पिछले पचास सालों के इतिहास में उन्होंने एक मुकाम पा लिया है। हम कह सकते हैं कि इन सालों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का एक चरण पूरा हो गया है और उन्होंने बुर्जुआ जनवाद के अपने कार्यभार को एक हद तक पूरा कर लिया है। अब जो भी कार्यभार बच रहे हैं वे किसी राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति के द्वारा नहीं बल्कि समाजवादी क्रांति के द्वारा पूरे किए जाएंगे - उप-उत्पाद के बतौर। इस तरह कहा जाए तो राष्ट्रीय मुक्ति की धारा अब समाजवादी क्रांति का अभिन्न अंग होने के बदले उसमें समाहित हो गयी है।

नव उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश की बात करने वाले 1963 की जिस **आम दिशा** पर अपने को आधारित करते हैं, उसके विस्तृत कथन **नये उपनिवेशवाद के पैराकार (महान बहस** की चौथी टिप्पणी) की शुरुआत कुछ इस तरह होती है:

> "दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से एशिया, अफ्रीका व लातीन अमेरिका में एक महान क्रांतिकारी तूफान उमड़ रहा है। पचास से अधिक एशियाई और अफ्रीकी देशों में स्वाधीनता का ऐलान किया जा चुका है। चीन, वियतनाम, कोरिया और क्यूबा ने समाजवादी रास्ता अपना लिया है। एशिया, अफ्रीका और लातीन अमेरिका की धरती पर भारी परिवर्तन हुए हैं।
>
> "पहले विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशों और अर्द्ध उपनिवेशों की क्रांतियों को साम्राज्यवादियों और उनके गुर्गों के दमन के कारण गंभीर आघात पहुंचा था, जबकि दूसरे विश्व युद्ध के बाद की परिस्थिति बुनियादी तौर पर भिन्न है। अब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के दावानल को बुझाने की सामर्थ्य साम्राज्यवादियों में नहीं रह गयी है। उनकी पुरानी उपनिवेशवादी व्यवस्था तेजी से छिन्न-भिन्न हो रही है। उनका पृष्ठभाग प्रचण्ड साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों का अग्रिम मोर्चा बन गया है। कुछ उपनिवेशों और अधीन देशों से साम्राज्यवादी शासन उखाड़ फेंका गया है तथा बाकी देशों में उसे भारी आघात पहुँचा है और वह लड़खड़ा रहा है। इसने अनिवार्य रूप से पूंजीवादी आधिपत्य-देशों में

> साम्राज्यवाद के शासन को कमजोर बना दिया है और उसे हिला दिया है।"
>
> "एशिया, अफ्रीका और लातीन अमेरिका में जन क्रांतियों की विजय और समाजवादी खेमे की विजय, ये दोनों मिलकर हमारे काल और युग का विजयघोष करते हैं।" (महान बहस, अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन, 1998, पृष्ठ-142)।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों का शायद इससे अच्छा कोई वर्णन नहीं किया जा सकता। ये बहुत सच्चे रूप में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के हालात को प्रस्तुत करते हैं।

यहां एकदम साफ है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियां उन शर्तों को काफी अच्छी तरह पूरा कर रही थीं जो लेनिन के अनुसार राष्ट्रीय मुक्ति के लिए आवश्यक थीं यानि क्रांतियों का एक सिलसिला और समाजवाद। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ अकेला समाजवादी देश नहीं रहा। 1950 के आसपास 11 और देश भी समाजवादी खेमे के अंग बन गये और दुनिया में एक मजबूत समाजवादी खेमा कायम हो गया। इसके साथ ही कई उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध तेजी से चलने लगे और कई तो पहले ही आजाद हो गये थे। इसके अलावा महत्वपूर्ण बात यही थी कि पुराने साम्राज्यवादी देश - इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इत्यादि द्वितीय विश्वयुद्ध में बेहद कमजोर हो गये थे और नया उभरा साम्राज्यवादी देश अमेरिका उनको प्रतिस्थापित करने के लिए प्राण-प्रण से प्रयास कर रहा था। ये सब कुल मिलाकर राष्ट्रीय मुक्ति के लिए बहुत अनुकूल परिस्थितियों की रचना करते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि **महान बहस** में इन परिस्थितियों का इतने शानदार तरीके से वर्णन किया गया है।

लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के लिए इतने अच्छे दिन बने नहीं रहे। जब **महान बहस** की उपरोक्त पंक्तियां लिखी जा रही थीं तब तक चीन और अल्बानिया को छोड़ बाकी देशों में संशोधनवादी हावी हो चुके थे जो साम्राज्यवादियों के सामने आत्मसमर्पण कर रहे थे। उत्तरी कोरिया, वियतनाम व क्यूबा की पार्टियों ने मध्यमार्ग चुना और आज हम उनका हश्र देख रहे हैं। यानि उपरोक्त पंक्तियां लिखे जाने तक ही राष्ट्रीय मुक्ति के लिए शानदार परिस्थितियां काफी खत्म हो चुकी थीं। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी माओ के नेतृत्व में 1976 तक डटी रही, लेकिन वह पूरे की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती थी।

लेकिन समाजवाद की इस आंशिक और 1976 में पूर्ण पराजय के बाद भी राष्ट्रीय मुक्ति के आंदोलन रुके नहीं। उन्हें गम्भीर क्षति पहुंची लेकिन वे खत्म नहीं हुए। इसमें सोवियत और अमेरिकी दोनों साम्राज्यवादी खेमों की आपसी प्रतिद्वन्दिता से इन आंदोलनों ने काफी लाभ उठाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के इन आंदोलनों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

पहली श्रेणी, उन देशों की है जहां नई जनवादी क्रांति हुई और बाद में समाजवाद कायम हुए। चीन, वियतनाम, उत्तरी कोरिया और क्यूबा इस श्रेणी में आते हैं। यहां राष्ट्रीय मुक्ति के कार्य सबसे मुकम्मल रूप में पूरे हुए। इन देशों में साम्राज्यवाद से आर्थिक और राजनीतिक दोनों विच्छेद किया गया।

दूसरी श्रेणी, उन देशों की है जहां उग्र राष्ट्रवाद रहा और जहां मुख्यतः पेटी बुर्जुआ के नेतृत्व में क्रांतिकारी तरीके से साम्राज्यवाद से राजनीतिक विच्छेद किया गया। अफ्रीका के अल्जीरिया, तंजानिया, जिम्बाबवे जैसे देश इसी श्रेणी में आते हैं। हालांकि ये कुल मिलाकर साम्राज्यवाद के दायरे में ही रहे, लेकिन इनका साम्राज्यवाद से राजनीतिक विच्छेद काफी कुछ आमूल-चूल था।

तीसरी श्रेणी, भारत सरीखे उन देशों की है जहां का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन मुख्यतः बुर्जुआ वर्गों के हाथों मे रहा और जिसने संघर्ष-समझौतों के जरिए अपनी राजनीतिक आजादी हासिल की। इन देशों के मामलों में साम्राज्यवाद से राजनीतिक विच्छेद सबसे कम मुकम्मल था।

इनके अलावा एक अन्य श्रेणी उन देशों की भी है जिन्होंने साम्राज्यवाद के साथ ही पूर्णतया संबद्ध होकर अपने 'विकास' का मार्ग चुना। यह दक्षिण पूर्व एशिया के दक्षिण कोरिया, ताइवान सरीखे देशों की है जिन्हें साम्राज्यवाद ने एक तरह से गोद ले लिया।

उपरोक्त तीनों श्रेणियों के देशों ने अपने-अपने मुक्ति संघर्षों के अनुरूप ही अपनी राजनीतिक आजादी के बाद अपने राष्ट्र निर्माण का कार्य हाथ में लिया और उसी के अनुरूप पूरा किया। राष्ट्र निर्माण के इस कार्यभार में प्रमुख था, सामंतवाद का खात्मा, एक एकीकृत बाजार व राज्य सत्ता का निर्माण, जनवाद का विकास।

आज कहा जा सकता है कि इन सारे ही देशों ने पिछले पचास सालों में अपने यहां राष्ट्र निर्माण के कार्य

को एक हद तक पूरा कर लिया है। उन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति समेत सभी जनवादी कार्यभारों को एक हद तक पूरा कर लिया है। कहीं यह ज्यादा मुकम्मल तरीके से हुआ है तो कहीं काफी ढीले-ढाले ढंग से, लेकिन यह हुआ है।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय जब जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार और उपनिवेशों की मुक्ति की बहस चल रही थी तब लेनिन ने पूरी दुनिया को तीन तरह की संरचनाओं में बांटकर देखने की बात कही थी। पहली श्रेणी पश्चिम के विकसित पूंजीवादी देशों की थी जहां राष्ट्र निर्माण पूरा हो गया था व अतीत की चीज बन गया था, जहां का पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी बन गया था और जो केवल अपना जनता को धोखा देने के लिए और बाकी जातियों/राष्ट्रों के उत्पीड़न/शोषण के लिए राष्ट्रवाद और देशभक्ति की बात करता था। दूसरी श्रेणी पूर्वी यूरोप के उन देशों की थी जहां राष्ट्र निर्माण वर्तमान का कार्यभार था। तीसरी श्रेणी औपनिवेशिक देशों की थी जहां राष्ट्र निर्माण अभी भविष्य की चीज था। इन दोनों ही श्रेणियों के राष्ट्रों का पूंजीपति वर्ग अभी ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील था, उसकी अभी प्रगतिशील भूमिका बनती थी।

अब जब हम इक्कीसवीं सदी की दहलीज़ पर बात कर रहे हैं, तो उपरोक्त तीनों श्रेणियों का फर्क लगभग मिट गया है, इस अर्थ में कि अब इन सारे ही देशों में राष्ट्र निर्माण का कार्य कमोबेश पूरा हो गया है। इनका अपने एकीकृत गृह बाजार का और किसानों का सामंती जकड़बंदी से मुक्ति का कार्य मूलतः पूरा हो गया है। फर्क है, लेकिन यह फर्क अब मात्रा का है, गुण का नहीं। निश्चय ही, औपनिवेशिक देशों में राष्ट्र निर्माण का यह कार्य बहुत लचर ढंग से हुआ है, लेकिन वह हुआ है इससे इंकार करना सच्चाई से आंखें चुराना होगा।

इन देशों की राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति और राष्ट्र निर्माण का कार्य एक हद तक पूरा हो जाने के कारण इन देशों के पूंजीपति वर्ग की भी ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील भूमिका अब समाप्त हो गई है। वह अब प्रथम विश्वयुद्ध के समय के पश्चिमी पूंजीपति वर्ग की तरह ही ऐतिहासिक तौर पर एक प्रतिक्रियावादी वर्ग बन गया है। वह अब राष्ट्रीय मुक्ति और राष्ट्र निर्माण के बचे-खुचे कार्यभारों को कतई अंजाम नहीं दे सकता।

इसके इस प्रतिक्रियावादी चरित्र का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वह अब साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग से खुद ही एकाकार हो रहा है? पिछले बीस सालों में एक-एक कर विभिन्न देशों के पूंजीपति वर्ग ने जिस तरह साम्राज्यवाद के सामने आत्मसमर्पण किया है, इससे साफ है कि अब वे अपने मुनाफे के लिए अपने राष्ट्र निर्माण - एकीकृत बाजार व किसानों की और ज्यादा मुक्ति - के बदले साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग से एकीकरण को ज्यादा मुफीद समझते हैं। वैश्वीकरण की उनकी तरफदारी का इसके अलावा कोई अर्थ नहीं है। अपना अलगाव खुद ही तोड़कर साम्राज्यवाद से एकाकार हो रहे पूंजीपति वर्ग से क्या यह उम्मीद की जा सकती है कि वह राष्ट्र निर्माण के लिए आगे आएगा?

अब भविष्य में इन देशों के पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवादियों के बीच जो भी टकराव होगा वह दो प्रतिक्रियावादी वर्गों के बीच का टकराव होगा, पहले की तरह एक प्रगतिशील एवं एक प्रतिक्रियावादी वर्ग के बीच का नहीं। आज इन देशों के पूंजीपति वर्ग की राष्ट्रवाद की सारी बातें बेहद प्रतिक्रियावादी होंगी, केवल अपनी जनता को धोखा देने और लूटने के लिए। उनमें प्रगतिशीलता का कोई भी अंश नहीं होगा। अपने देश में भाजपा की देशभक्ति और उसका राष्ट्रवाद कितना प्रतिक्रियावादी है, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। ढेरों देशों का इस्लामी राष्ट्रवाद इससे कम प्रतिक्रियावादी नहीं है। आज यह भी अकारण नहीं है कि ये सारे "राष्ट्रवाद" धार्मिक राष्ट्रवाद का बाना ओढ़े हुए हैं। चूंकि ये वर्ग ऐतिहासिक तौर पर प्रतिक्रियावादी हो चुके हैं, अतः जनता को आपने पीछे लामबन्द करने के लिए धार्मिक उन्माद फैलाना इनकी मजबूरी है। ये "राष्ट्रवादी" धर्म निरपेक्ष नहीं हो सकते।

किसी गलतफहमी से बचने के लिए हम जोड़ दें कि यहां हम मूल प्रवृत्ति की चर्चा कर रहे हैं, अपवादों की नहीं। इक्का-दुक्का अपवादों से इतिहास के मुख्य कार्यभार तय भी नहीं होते।

उपरोक्त बातों से यह बात स्वतः ही स्पष्ट है कि पहले के सारे उपनिवेश आज राजनीतिक रूप से मूलतः स्वाधीन देश हैं। निश्चय ही इनके ऊपर साम्राज्यवादी दबाव और प्रभाव हैं (कई मामलों में यह कुछ ज्यादा भी हो सकता है), लेकिन यह राजनीतिक पराधीनता की स्थिति नहीं है। इन पर आज प्रत्यक्ष या परोक्ष साम्राज्यवादी राजनीतिक नियंत्रण नहीं है। इसीलिए इन देशों की स्थिति आज उपनिवेशों, अर्द्ध-उपनिवेशों या नव उपनिवेशों

से भिन्न है। इन्हें अर्द्ध उपनिवेश या नव उपनिवेश कहना पुराने सूत्रों को दुहराना भर होगा।

लेकिन साथ ही यह भी सच है कि ये सारे देश आज साम्राज्यवादी वित्त पूंजी से एकाकार हैं। जो पहले नहीं थे, वे भी तेजी से एकाकार हो रहे हैं। वे खुद और साम्राज्यवादी दबाव में अपने सीमित अलगाव को तोड़ रहे हैं। आर्थिक तौर पर कहा जाए तो वे साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी के अधीन हैं। साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी ने इनकी अर्थव्यवस्थाओं को अपने हजार हाथों में जकड़ रखा है तथा दिनोंदिन और जकड़ती जा रही है। उसकी इस जकड़न की प्रक्रिया में इन देशों की राजनीतिक आजादी कहीं से भी बाधा नहीं बन रही है। इस प्रक्रिया में इनकी राजनीतिक आजादी कहीं क्षरित और कहीं 'अतिक्रमित' तो हो रही है, लेकिन यह मूलतः बनी हुई है। मूलतः राजनीतिक आजादी और आर्थिक पराधीनता की वह स्थिति अर्द्ध उपनिवेशों और नव उपनिवेशों से भिन्न हैं और उन देशों से मिलती-जुलती है जिनका जिक्र लेनिन बार-बार करते हैं। मसलन पुर्तगाल, नार्वे, इत्यादि। पहले के उपनिवेशों की आज की यह स्थिति एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसका फिलहाल हम यहां वर्णन नहीं कर रहे हैं। लेकिन मूलतः राजनीतिक स्वाधीनता और आर्थिक पराधीनता की यह स्थिति एक सच्चाई है और इसे स्वीकार करना होगा। चूंकि यह स्थिति नव उपनिवेश से भिन्न है इसीलिए हम इसे आर्थिक नव उपनिवेश कहते हैं। इसे हम आर्थिक नव उपनिवेश कहते हैं इसलिए नहीं कि साम्राज्यवाद आज एक संपूर्ण आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक संरचना नहीं रह गया है बल्कि केवल इसलिए कि राजनीतिक स्वाधीनता की आज की स्थिति को हमारे मूल्यांकन में समाहित किया जा सके। इसके बिना हम आज के विश्व का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते।

हमने कहा कि आर्थिक नव उपनिवेशवाद के तहत जब हम मूलतः राजनीतिक आजादी और आर्थिक गुलामी की बात करते हैं तो इसका कतई यह मतलब नहीं होता कि साम्राज्यवाद आज एक सम्पूर्ण आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना नहीं रह गया है, कि यह आज 'आर्थिक साम्राज्यवाद' तक सीमित रह गया है। यह कहना या सोचना साम्राज्यवाद को केवल उसके बाहरी प्रभाव से परिभाषित करना है जो उसकी आंतरिक गति को भुला देता है। यह कहना साम्राज्यवाद को केवल पिछड़े देशों से उसके संबंध से परिभाषित करना है न कि उसके अपने आधारों से। यह साम्राज्यवाद को उसके परिणाम से परिभाषित करना है, आंतरिक गति से नहीं। यह और कुछ नहीं, काउत्स्कीवाद है। साम्राज्यवाद सबसे पहले तो एकाधिकारी पूंजीवाद है। यह विकसित पूंजीवाद के गर्भ में औद्योगिक व बैंकिंग एकाधिकार तथा उसकी पैदाइश वित्तीय पूंजी की उत्पत्ति से पैदा होता है। एकाधिकारी वित्तीय पूंजी वह आर्थिक आधार है जिस पर साम्राज्यवाद खड़ा है। इस एकाधिकारी पूंजी के अनुरूप एक प्रतिक्रियावादी राजनीतिक-सामाजिक व सांस्कृतिक अधिरचना की भी उत्पत्ति होती है। जिसका घना जाल हम विकसित पूंजीवादी देशों में देखते हैं। साम्राज्यवाद सबसे पहले तो अपने ही समाज को अपनी प्रतिक्रियावादी जकड़ में लेता है। लेकिन वित्तीय पूंजी की अधिकता, कच्चे माल के स्रोतों पर कब्जों तथा एकाधिकारी पूंजी की सर्वप्रभुत्व की आकांक्षा वित्तीय पूंजी के निर्यात और प्रभुत्व के सबसे मुकम्मल रूप के बतौर पिछड़े देशों की राजनीतिक पराधीनता या उपनिवेशों में अभिव्यक्त होती है। उपनिवेश एकाधिकारी पूंजीवाद, साम्राज्यवाद का बाहर की ओर विस्तार है। साम्राज्यवाद का यह बाहरी विस्तार क्या रूप ग्रहण करेगा, यह केवल साम्राज्यवादी देशों पर ही नहीं बल्कि पराधीन बनाये जा रहे देश पर व दुनिया के सम्पूर्ण शक्ति संतुलन पर भी निर्भर करेगा। साम्राज्यवाद वित्तीय पूंजी के अधिपत्य के साथ और किस हद तक (राजनीतिक इत्यादि) अधिपत्य हासिल कर पाता है, यह उपरोक्त चीजों से तय होगा।

यहां हम एक बार फिर कह दें कि पहले के उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति के सारे कार्य पूरे नहीं हुए हैं। उनमें से कई बचे हुए हैं। इसीलिए हम बार-बार "एक हद तक" या "मूलतः" शब्द का जानबूझकर प्रयोग कर रहे हैं। लेकिन हमारा कहना है कि इन बचे हुए कार्यभारों को अब नई जनवादी क्रांति के दायरे में पूरा नहीं किया जा सकता और न ही इन्हें पूरा करने में अब इन देशों के पूंजीपति वर्ग की कोई प्रगतिशील भूमिका बनती है। अब ये सारे बचे हुए कार्य समाजवादी क्रांति को एजेण्डे पर लाकर ही पूरे किए जा सकते हैं, उसके "उप-उत्पाद" के तौर पर। यह कार्य सर्वहारा वर्ग पूंजीवादी उत्पादन संबंधों और पूंजीपति वर्ग को अपना मुख्य निशाना बनाकर ही कर सकता है।

V

बचे-खुचे राष्ट्रीय मुक्ति कार्यभारों को समाजवादी क्रांति ही पूरा करेगी

हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों में बुर्जुआ वर्ग को क्रांतिकारी वर्ग के रूप में बढ़ा-चढ़ाकर देखने की आदत रही है। इसीलिए प्रत्यक्षतः उसकी क्रांतिकारिता के कोई चिन्ह न नजर आने के बावजूद कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ग्रुपों के कार्यक्रमों में यह बात दर्ज रहती है कि नई जनवादी क्रांति के दौरान राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को क्रांति के पक्ष में जीत कर लाना है। यदि वह विद्यमान नहीं है तो उसका अविष्कार करना होगा। नहीं, यह हंसी की बात नहीं है। हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी साथियों का कहना है कि वह आज भले ही नजर न आ रहा हो लेकिन क्रांति के आगे बढ़ने पर वह सामने उभरकर आएगा और तब हम उसे क्रांति में अपने साथ ले लेंगे।

राष्ट्रीय मुक्ति के मामले में भी उनका यही कहना है क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति नई जनवादी क्रांति दो प्रमुख कार्यभारों में से एक है।

लेकिन हमारा मानना है कि यह बात मूलतः गलत है। बुर्जुआ वर्ग अपने पूरे इतिहास में उतना क्रांतिकारी कभी नहीं रहा जितना हमारे ये साथी सोचते हैं। बल्कि वह अक्सर ही अपना प्रतिक्रियावादी चरित्र दिखाता रहा है। वह ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील था लेकिन उसने व्यवहार में बहुत अधिक क्रांतिकारिता दिखाई हो, ऐसा नहीं है। बल्कि उसने अक्सर ही क्रांति के **बदले** समझौतों से काम चलाने का प्रयास किया। इतिहास में समझौता उसका मूल चरित्र रहा, क्रांति उसने कभी-कभी और मजबूरी में की।

राष्ट्रीय मुक्ति के बारे में अपनी इसी पुस्तिका 'मार्क्सवाद का विकृत रूप....' में लेनिन यह कहते हैं :

> "... अक्सर हम देखते हैं (खासकर आस्ट्रिया और रूस में) कि उत्पीड़ित जातियों का बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय विद्रोह **की बातें ही** बघारता है और व्यवहार में वह अपनी जनता के पीठ पीछे और अपनी ही जनता के **खिलाफ** उत्पीड़क जाति के बुर्जुआ वर्ग के साथ प्रतिक्रियावादी समझौते करता है।" (वही, पृष्ठ-46)।

इतिहास में बुर्जुआ वर्ग की क्रांतिकारिता कितनी रही है और सर्वहारा वर्ग उससे किस मायने में भिन्न है तथा कैसे सर्वहारा समाजवादी क्रांति चलते-चलते बुर्जुआ जनवाद के बचे-खुचे कार्यभारों को "उप उत्पाद" के बतौर अंजाम दे देती है, इसे दिखाने के लिए हम लेनिन का एक लम्बा उद्धरण देंगे जो उन्होंने अक्टूबर क्रांति की चौथी वर्षगाँठ के अवसर पर लिखा था:

> "रूस में क्रांति का प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक कार्यभार बुर्जुआ-जनवादी क्रांति का कार्यभार था : मध्ययुगीनता के अवशेषों को मिटा देना, उन्हें अंत तक झाड़-बुहार देना, रूस से इस बर्बरता का, इस कलंक का, हमारे देश की पूरी संस्कृति और पूरी प्रगति की राह में इस जबर्दस्त बाधा का सफाया कर देना।
>
> "और हमें इस पर उचित ही गर्व है कि यह सफाई 125 वर्ष पूर्व की महान फ्रांसीसी क्रांति की तुलना में कहीं अधिक संकल्पपूर्वक, शीघ्रतापूर्वक, साहसपूर्वक, सफलतापूर्वक तथा जनसाधारण पर, उनके गहनतम स्तरों पर प्रभाव के दृष्टिकोण से कहीं अधिक व्यापक रूप से तथा गहनतापूर्वक की गयी थी। .....
>
> "क्रांति के बुर्जुआ-जनवादी अन्तर्य का अर्थ है देश के सामाजिक संबंधों (विभिन्न व्यवस्थाओं, संस्थाओं) से मध्ययुगीनता, भूदासता, सामंतवाद को झाड़-बुहार देना।
>
> "1917 तक रूस में भूदासता की मुख्य अभिव्यक्तियां, उत्तरजीवी, अवशेष क्या थे? राजतंत्र, सामंती श्रेणी भेद, भूमि-स्वामित्व और भूमि-धारण, स्त्रियों की दशा, धर्म, जातियों का उत्पीड़न। "अवगी की घुड़सालों" में से किसी को भी ले लीजिए - जो, प्रसंगतः समस्त अग्रगामी राज्यों में तक बिना साफ किए छोड़ दी गई थीं, जब उन्होंने सवा सौ साल, ढाई सौ साल पहले और उससे भी अधिक पहले (1649 में इंग्लैण्ड में) **अपनी** बुर्जुआ जनवादी क्रांतियां सम्पन्न की थीं - अवगी की इन घुड़सालों में से किसी को भी ले लीजिए। आप देखेंगे कि हमने उन्हें पूरी तरह साफ कर दिया है। कोई **दस सप्ताहों** में, 25 अक्टूबर (7 नवम्बर), 1917 से लेकर संविधान सभा के भंग किए जाने तक (5 जनवरी, 1918), हमने इस क्षेत्र में उससे हजार गुना ज्यादा काम किया, जितना बुर्जुआ जनवादियों और उदारतावादियों (कैडेटों) तथा टुटपुंजिया जनवादियों (मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों) ने अपनी सत्ता के **आठ माहों में** किया था।.....
>
> "धर्म को या नारियों की अधिकारहीनता या गैर रूसी जातियों के उत्पीड़न और असमानता को ही ले लीजिए। ये सब बुर्जुआ - जनवादी क्रांति के प्रश्न हैं। बाजारू टुटपुंजिया जनवादी आठ माह तक इस बारे में बकवास करते रहे; दुनिया के सबसे अग्रगामी देशों में से **एक भी** ऐसा **नहीं** है, जहां **इन** प्रश्नों को **बुर्जुआ जनवादी ढंग से अंतिम रूप से** हल कर दिया गया हो। हमारे यहां उन्हें अक्टूबर क्रांति के विधान द्वारा अंतिम रूप से हल कर दिया गया। हम

> धर्म के विरुद्ध वास्तविक रूप से लड़ते रहे और लड़ रहे हैं। हमने **समस्त** गैर रूसी जातियों को **उनके अपने** जनतंत्र या स्वायत्त प्रदेश दे दिए हैं। हमारे यहां रूस में नारियों की अधिकारहीनता, असमानता जैसी नीचता, कमीनगी और अधमता का, भूदास स्वामित्व तथा मध्ययुगीनता के उन घिनौने अवशेषों का अस्तित्व नहीं रहा, जिनका बिना किसी अपवाद के पृथ्वी के समस्त देशों का लोभी बुर्जुआ वर्ग तथा मंदबुद्धि, भयभीत टुटपुंजिया वर्ग नवीकरण कर रहे हैं।
>
> "यह सब बुर्जुआ-जनवादी क्रांति का अंतर्य है। डेढ़ सौ और ढाई सौ वर्ष पहले उस क्रांति के (इन क्रांतियों के, अगर सामान्य किस्म के प्रत्येक जातीय रूप की बात की जाए) प्रगतिशील नेताओं ने जनगण को मध्ययुगीन विशेषाधिकारों से, नारियों की असमानता से, इन या उन धर्मों (या "धर्म के **विचार**", सामान्यतया "धार्मिकता") की राजकीय प्राथमिकता, जातियों की असमानता से मुक्ति दिलाने का वचन दिया था। उन्होंने वचन दिया था, परन्तु उसकी पूर्ति नहीं की। वे उसकी पूर्ति नहीं कर सके, इसलिए कि "पवित्र निजी संपत्ति" के प्रति "आदर भावना" बाधक बनी थी। हमारी सर्वहारा क्रांति में इस तेहरी लानत भरी मध्ययुगीनता के प्रति और इस "पवित्र निजी सम्पत्ति" के प्रति यह लानतभरी "आदर भावना" नहीं थी।
>
> "परन्तु रूस के जनगण के लिए बुर्जुआ-जनवादी क्रांति की उपलब्धियां सुदृढ़ कर सकने के वास्ते हमें आगे बढ़ना पड़ा था और हम आगे बढ़े। हमने बुर्जुआ-जनवादी क्रांति के प्रश्नों को चलते-चलते बिना किसी तैयारी के, अपने मुख्य तथा वास्तविक **सर्वहारा**-क्रांतिकारी, समाजवादी क्रांति के "उप-उत्पाद" के रूप में हल किया। सुधार, हम सदैव कहा करते थे, क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष का उप-उत्पाद होते हैं। बुर्जुआ जनवादी पुनर्गठन - हम कहा करते थे और हमने अमल में सिद्ध किया - सर्वहारा, यानि **समाजवादी क्रांति** के उप-उत्पाद होते हैं। प्रसंगतः सारे काउत्स्की, हिल्फर्डिंग, मार्तोव, चेर्नोव, हिलक्वीट, लांगे, मैकडोनाल्ड, तुराती जैसे लोग और "ढाईवें" मार्क्सवाद के अन्य सूरमा बुर्जुआ-जनवादी और सर्वहारा-समाजवादी क्रांतियों के बीच **ऐसे** सह-संबंध को नहीं समझ सके थे। पहली क्रांति संवर्धित होकर दूसरी क्रांति बन जाती है। दूसरी क्रांति चलते-चलते पहली क्रांति के प्रश्न हल करती है। दूसरी क्रांति पहली क्रांति के काम को सुदृढ़ करती है। संघर्ष और केवल संघर्ष यह तय करता है कि किस हद तक दूसरी क्रांति पहली क्रांति से आगे जाने में सफल होती है।" (लेनिन, अक्टूबर क्रांति की चौथी वर्षगांठ, वही, खंड-10, पृष्ठ 204-207)।

यह था अक्टूबर क्रांति का चरित्र!

भारत जैसे पहले के उपनिवेशों की आज की हालत ऐसी है कि बुर्जुआ जनवादी क्रांति के बचे-खुचे कार्यभार - सामंती भू सम्पत्ति के अवशेषों का उन्मूलन, धर्म, जाति व नारियों का सवाल तथा राष्ट्रीय मुक्ति का मामला, अब अलग बुर्जुआ जनवादी क्रांति की मंजिल की मांग नहीं करते। वस्तुतः, अब इन्हें केवल सामंती अवशेषों को अपना निशाना बनाकर हल नहीं किया जा सकता। आज खुद बुर्जुआ वर्ग इन अवशेषों को संरक्षण दे रहा है। वह उन्हें अपनाकर अपने शोषण को बनाए रखने में उनका इस्तेमाल कर रहा है। जहां संभव है, वहां वह मध्ययुगीन अवशेषों को अपना शोषण तीव्र करने, मुनाफा बढ़ाने में इस्तेमाल कर रहा है। ऐसे में बिना उसे निशाना बनाए, बिना उन पूंजीवादी उत्पादन संबंधों को निशाना बनाए जो सामंती अवशेषों का इस्तेमाल कर रहे हैं, इनका उन्मूलन संभव नहीं है।

यही बात राष्ट्रीय मुक्ति के मामले में भी है। आज बुर्जुआ वर्ग अपने पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के आधार पर साम्राज्यवादी पूंजी के साथ एकाकार हो रहे हैं। गांवों तक का बुर्जुआ वर्ग (शेतकारी संगठन के शरद जोशी) वैश्वीकरण का उत्साही समर्थक है। यदि कोई देहाती बुर्जुआ शंकालु है भी तो वह केवल अपना नफा-नुकसान देख रहा है। अंततः वह अपना हित वैश्विक पूंजी के साथ एकीकरण में ही देखेगा, सर्वहारा के पूंजी के खिलाफ़ संघर्ष में नहीं। ऐसा इसलिए और भी होगा कि इस देहाती बुर्जुआ का अब देहातों में किसी सामंती वर्ग से कोई टकराव नहीं है, वह सामंती वर्ग जो साम्राज्यवाद का आधार होता था। यह इस सीधी ही बात के कारण कि अब देहातों में कोई सामंती वर्ग बचा ही नहीं है। वह या तो खत्म हो गया है, या उसका पूंजीवादीकरण हो गया है। आज साम्राज्यवादी पूंजी गांव-गांव में सामंती तत्वों को आधार बनाकर नहीं प्रवेश कर रही है। आज वह बाजार के माध्यम से, पूंजी के माध्यम से प्रवेश कर रही है। आज साम्राज्यवाद के आर्थिक नव उपनिवेशों में सामाजिक अवलम्ब सामंती वर्ग नहीं बल्कि पूंजीपति हैं - शहरी व देहाती पूंजीपति वर्ग दोनों, सम्पूर्ण रूप से पूंजीपति वर्ग। यदि इनके बीच कोई अंतर्विरोध है भी तो वह पूंजीपतियों के आपस के अंतर्विरोध हैं, जो शाश्वत हैं।

अब यदि इन देशों में साम्राज्यवाद का सामाजिक अवलम्ब पूंजीपति वर्ग है तो राष्ट्रीय मुक्ति के लिए कोई

भी संघर्ष इस पूंजीपति वर्ग को निशाना बनाए बगैर संभव नहीं है। न केवल इसकी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में कोई दिलचस्पी नहीं होगी बल्कि उल्टे वह तो साम्राज्यवाद के पक्ष में ही खड़ा होगा। यही नहीं, आज साम्राज्यवादी उत्पीड़न को, चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक, उसके देशी पूंजीवाद के साथ घनिष्ठ संबंधों के आधार पर ही समझा जा सकता है। ऐसे में देश के भीतर के पूंजीवादी उत्पादन संबंधों पर प्रहार किये बिना साम्राज्यवादी उत्पीड़न को किसी तरह खत्म नहीं किया जा सकता।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय मुक्ति की आज की लड़ाई - इसके बचे-खुचे कार्यभारों को अंजाम तक पहुंचाना - समाजवादी क्रांति के माध्यम से ही लड़ी जा सकती है, वह क्रांति जो देश के भीतर के पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का ही खात्मा नहीं करेगी बल्कि जो साम्राज्यवाद के साथ सम्पूर्ण विच्छेद भी करेगी। इसीलिए हमारा कहना है कि आज एजेण्डे पर है समाजवादी क्रांति। यदि हम आज समाजवादी क्रांति को एजेण्डे पर नहीं लाते हैं तो इसका मतलब होगा कि हम अतीत में जी रहे हैं, हम अतीत से पीछा नहीं छुड़ा पा रहे हैं। यदि वर्तमान के अपने असली दुश्मन पूंजीवाद को हम निशाना नहीं बनाते और सामंतवादी अवशेषों से लड़ते रहते हैं तो इसका मतलब यह होगा कि वस्तुगत तौर पर हम अवसरवाद कर रहे हैं, आत्मगत तौर पर चाहें या न चाहें।

VI

हम लेनिन और बोल्शेविक पार्टी से सीखें

राष्ट्रीय मुक्ति के आज के कार्यभारों का विवेचन करते समय ऊपर हमने एकाधिक बार यह कहा है कि हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमे में राजनीतिक सवालों के प्रति उपेक्षा का भाव है - खासकर इस राष्ट्रीय मुक्ति के सवाल पर। इस मामले में वह कुछ इस रूप में अभिव्यक्त होता है कि पहले के उपनिवेशों ने एक समय जो राजनीतिक आजादी हासिल की, वह फर्जी है, उसका कोई अर्थ नहीं है। उसकी बात करना बेमानी है। इसी तरह यह इस बात में भी अभिव्यक्त होती है कि चूंकि साम्राज्यवाद बहुत शक्तिशाली है, तथा इन पहले के उपनिवेशों ने साम्राज्यवाद से पूर्ण आर्थिक विच्छेद नहीं किया अतः उनके राजनीतिक विच्छेद, राजनीतिक स्वाधीनता का कोई मतलब नहीं है।

लेनिन सोच के इस ढंग को 'साम्राज्यवादी अर्थवाद' वे कहते हैं:

> "1894-1901 के काल में पुराने अर्थवादी कहा करते थे कि पूंजीवाद विजयी हुआ है, **लिहाजा** राजनीतिक समस्याओं को लेकर परेशान होने की जरूरत नहीं है और इस तरह वे रूस में राजनीतिक संघर्ष का परित्याग कर बैठते थे। आज के 'साम्राज्यवादी अर्थवादी' तर्क करते हैं: साम्राज्यवाद विजयी हुआ है **लिहाजा** राजनीतिक जनवाद की समस्याओं को लेकर परेशान होने की जरूरत नहीं है।" (लेनिन, मार्क्सवादी का विकृत रूप...., वही, पृष्ठ 4)।

हमें खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि आज हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में सोच की यह प्रवृत्ति, राजनीतिक प्रश्नों पर पर्याप्त ध्यान न देने की प्रवृत्ति हावी है और वह भी नई जनवादी क्रांति करने की रट लगाते हुए। यह एक विडम्बना है, लेकिन सच है कि जो लोग आज भी राष्ट्रीय मुक्ति के लिए नई जनवादी क्रांति करने की बार-बार कसमें खाते हैं वे अतीत में इस क्षेत्र में - राष्ट्रीय मुक्ति के क्षेत्र में - हुए राजनीतिक बदलावों का आकलन करने को तैयार नहीं हैं। वे उन परिवर्तनों को एक वाक्य में खारिज कर देते हैं और जमकर 1963 में बैठ जाते हैं, 1963 की **आम दिशा** की मूल, क्रांतिकारी भावना को धता बताते हुए। चूंकि वे पिछले 40-50 साल के राजनीतिक परिवर्तनों को नहीं देखते, इसलिए उनके लिए पुराने कार्यभार यथावत बने रहते हैं।

इस मामले में हम यह बात भी करना चाहेंगे कि दुनिया के कम्युनिस्टों ने यदि इसी तरह पुराने सूत्रों से चिपके रहने का हठ ठाना होता तो शायद वे एक भी क्रांति न कर पाये होते। क्या केवल यही बात इसका प्रमाण नहीं है कि दुनिया कि किसी भी क्रांति ने अपने आप को दुहराया नहीं है। अंतर्वस्तु में भले ही नहीं (बल्कि इस या उस स्तर पर इसमें भी) लेकिन रूप में हर क्रांति दूसरे से जुदा रही है। किसी क्रांति ने दूसरे की नकल नहीं की। लेकिन हमारे कम्युनिस्ट हैं कि वे नकल करने की ठानकर बैठे हुए हैं।

क्या इस बात में कोई बहस की गुंजाइश है कि लेनिन ने मार्क्स-एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत पुरानी अवधारणा को तोड़कर रूस में क्रांति की? क्या दूसरे इंटरनेशनल के सारे अधिकारिक नेता व मेंशेविक इसी बात का लेनिन

पर आरोप नहीं लगाते थे कि लेनिन मार्क्स व एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत क्रांति की रणनीति व रणकौशल से विचलन कर रहे हैं? क्या ट्राटस्की ने स्टालिन पर यह आरोप नहीं लगाया कि स्टालिन एक देश में समाजवाद के निर्माण की बात कर मार्क्स-एंगेल्स व यहां तक कि लेनिन की बातों से विचलन कर रहे हैं? क्या माओ पर यह आरोप नहीं लगा कि वे देहाती क्षेत्र व किसानों को नई जनवादी क्रांति का आधार बनाकर मूलतः किसान मानसिकता का परिचय दे रहे हैं और दशाब्दियों से कम्युनिस्टों द्वारा स्वीकृत सर्वहारा के नेतृत्व व आधार की बात का उल्लंघन कर रहे हैं? लेकिन यदि लेनिन, स्टालिन व माओ ने विरोधियों की बात मानी होती और पुराने सूत्रों से चिपके रहे होते तो रूसी व चीनी क्रांतियों का क्या हश्र हुआ होता?

आज जरूरत इस बात की है कि हम स्टालिन द्वारा अनुमोदित बोल्शेविक पार्टी के इतिहास में सबक के रूप में वर्णित बिन्दु दो को आत्मसात करें और पुराने सूत्रों से चिपकने के बजाय मार्क्सवाद को विज्ञान के रूप में ग्रहण कर भारतीय सर्वहारा को समाजवादी क्रांति के लिए लामबंद करें :

> "पार्टी के इतिहास से हमें आगे यह शिक्षा मिलती है कि मजदूर वर्ग की पार्टी अपनी वर्ग-नेत्री की भूमिका तब तक पूरी नहीं कर सकती, सर्वहारा क्रांति की संगठनकर्ता और नेत्री की भूमिका तब तक पूरी नहीं कर सकती, जब तक कि वह मजदूर आंदोलन के आगे बढ़े हुए सिद्धांत, मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत में माहिर नहीं होती।.....
>
> "ऐसा लग सकता है कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत में माहिर होने के लिए बस इतना ही जरूरी है कि मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की रचनाओं से अलग-थलग नतीजे और स्थापनाएं मेहनत के साथ रट ली जाएं, मौके से उनका उद्धरण देना सीख लिया जाय और बाकी के लिए इस उम्मीद का भरोसा किया जाये कि रटे हुए परिणाम और स्थापनाएं हर किसी परिस्थिति और अवसर के अनुकूल होंगी। लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त की तरफ ऐसा रवैया बिल्कुल गलत है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को सूत्रों का संग्रह न समझना चाहिए, कोई धर्म-ग्रन्थ न समझना चाहिए और खुद मार्क्सवादियों को उसका मुल्ला और पंडित न समझना चाहिए। मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त समाज के विकास का विज्ञान है, मजदूर आंदोलन का विज्ञान है, सर्वहारा क्रांति का विज्ञान है, कम्युनिस्ट समाज रचने का विज्ञान है। विज्ञान की हैसियत से, वह एक जगह स्थिर नहीं रहता, न रह सकता है बल्कि विकसित होता है और अपने को पूर्ण बनाता है। यह स्पष्ट है कि अपने विकास में वह जरूर ही नये अनुभव और नये ज्ञान से समृद्ध होगा और समय बीतने पर उसकी कुछ स्थापनाएं और परिणाम जरूर ही बदलेंगे, नई ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुकूल नई स्थापनाएं और परिणाम जरूर ही उनकी जगह लेंगे।
>
> "मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में माहिर होने का हरगिज यह मतलब नहीं है कि उसके तमाम सूत्रों और परिणामों को रट लिया जाये और उसके हर शब्द से चिपके रहा जाये। मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में माहिर होने के लिए, हमें सबसे पहले उसके शब्दों और तत्व में भेद करना सीखना चाहिए।
>
> "मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में माहिर होने का मतलब है कि उस सिद्धान्त के **सारतत्व** को पचाना और सर्वहारा के वर्ग संघर्ष की बदलती हुई परिस्थितियों में, क्रांतिकारी आंदोलन की अमली समस्याएं हल करने में उसका उपयोग सीखना।
>
> "मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में माहिर होने का मतलब है, इस सिद्धान्त को क्रांतिकारी आंदोलन के नये तजुर्बों से भरा-पूरा बनाना, उसे नयी स्थापनाओं और परिणामों से समृद्ध करना। मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में माहिर होने का मतलब है उसकी पुरानी पड़ चुकी स्थापनाओं और परिणामों को सिद्धान्त के तत्व के अनुसार बदलने में हिचकिचाए बिना, उसकी जगह नई ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुकूल स्थापनाओं और परिणामों को रखकर, उसे **विकसित करने और बढ़ाने** की योग्यता रखना।
>
> "मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत कठमुल्लापन नहीं है, बल्कि काम करने के लिए एक मार्गदर्शक है।"
>
> .....
>
> "अवसरवाद का हमेशा यही मतलब नहीं होता कि मार्क्सवादी सिद्धांत या उसकी स्थापनाओं को सीधे-सीधे नामंजूर किया जाए। अवसरवाद कभी-कभी इस कोशिश में भी प्रकट होता है कि मार्क्सवाद की उन स्थापनाओं से चिपके रहा जाए जो पुरानी पड़ चुकी हैं और उन्हें धर्म-सूत्र की तरह बना दिया जाए, जिससे कि मार्क्सवाद का और आगे विकास रोक दिया जाए और फलतः सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलन का विकास रोक दिया जाए।" (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास, कामगार प्रकाशन, दिल्ली, 1984, पृष्ठ 426-429)। ■